*नरेंद्र कोहली द्वारा लिखित 'भारत का मुकुट'

एक जलता हुआ यथार्थ

नरेंद्र कोहली हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध लेखक थे, जिन्होंने उपन्यास, नाटक, निबंध और व्यंग्य की विधाओं में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनका जन्म 6 जनवरी 1940 को सियालकोट (अब पाकिस्तान में) हुआ था। भारत विभाजन के बाद उनका परिवार भारत आ गया। कोहली का साहित्य भारतीय संस्कृति, जीवनमूल्यों और सामाजिक विसंगतियों पर आधारित होता है। व्यंग्य लेखन में भी वे अत्यंत प्रभावशाली थे। उनकी रचनाओं में गहरी सामाजिक और राजनीतिक संवेदना झलकती है। उनका व्यंग्य 'भारत का मुकुट' उनके तीखे, बौद्धिक व्यंग्य का प्रमाण है। नरेंद्र कोहली ने हिंदी साहित्य को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया और वे सदैव एक युगद्रष्टा साहित्यकार के रूप में याद किए जाएंगे।

भारत के मस्तक पर सुशोभित कश्मीर को हम वर्षों से 'भारत का मुकुट' कहते आए हैं। यह एक गौरवशाली उपमा है, जो न केवल कश्मीर की भौगोलिक स्थिति को दर्शाती है, बल्कि उसकी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक महत्ता को भी परिलक्षित करती है। किंतु आज यह मुकुट अपनी चमक खोता जा रहा है, और यह केवल शाब्दिक नहीं, वास्तविक चिंता का विषय बन गया है। नरेंद्र कोहली जैसे सजग साहित्यकारों ने अपनी पैनी दृष्टि से इस वास्तविकता को उद्घाटित किया है। उन्होंने अपने निबंध में जो प्रश्न उठाए हैं, वे केवल एक लेखक के नहीं, बल्कि हर जागरूक भारतीय के भीतर गूंजते चिंतन हैं।

कश्मीर केवल एक सीमा वाद नहीं है। यह एक राष्ट्रीय प्रश्न बन गया है, जिसमें भारत की नीति, राजनीति, समाज और नागरिक चरित्र की गहन परीक्षा हो रही है। जिस कस्बे की आगजनी से नरेंद्र कोहली अपने लेख की शुरुआत करते हैं, वह केवल ईंट-पत्थर की नहीं, बल्कि संवेदना, सुरक्षा, शासन और मानवता की जली हुई राख है। जब सरकार के प्रतिनिधि कहते हैं कि 'एक कस्बा जल गया', तो यह एक समाचार नहीं, बल्कि प्रशासनिक असफलता की स्वीकारोक्ति है। यह वह क्षण है, जब देश का आम नागरिक पूछना चाहता है — कि अगर कश्मीर भारत का अंग है, तो वहां बार-बार बाहरी घुसपैठ क्यों होती है? क्यों एक ओर भारतीय सेना को वहाँ नियंत्रण में रहने का आदेश दिया जाता है, और दूसरी ओर आतंकी आसानी से घुसकर कस्बे जला जाते हैं?

लेखक तीखे व्यंग्य के माध्यम से इस विरोधाभास को प्रश्न के रूप में उकेरते हैं: "सेना नहीं घुस सकती, क्योंकि वह भारतीय है; आतंकी घुस सकते हैं, क्योंकि वे पाकिस्तानी हैं।" यह वाक्य जितना हास्यास्पद प्रतीत होता है, उतना ही पीड़ादायक भी है। यह भारत सरकार की उस नीति को उजागर करता है, जिसमें वह राष्ट्रहित से अधिक अंतरराष्ट्रीय समीकरणों और घरेलू राजनीति के समीकरणों को प्राथमिकता देती है। जब कोई देश अपने ही क्षेत्र में अपनी सेना को रोकने और विदेशी आतंकियों को बर्दाश्त करने लगे, तो यह केवल रणनीतिक असफलता नहीं, बल्कि वैचारिक दिवालियापन होता है।

इस निबंध की एक बड़ी उपलब्धि यह है कि यह किसी भी पक्ष को सीधे खलनायक नहीं ठहराता, बल्कि समाज के प्रत्येक घटक – सरकार, नेता, आम नागरिक, प्रशासन और स्वयं पीड़ित – सबको कटघरे में खड़ा करता है। लेखक यह दिखाते हैं कि भारत में राजनीति कैसे राष्ट्रनीति के ऊपर हावी हो चुकी है। जब नेता यह कहने लगें कि "जो दंगे कर रहे हैं, वे हमारे वोट हैं", और "जो पीड़ित हैं, वे हमें वोट नहीं दे सकते", तब लोकतंत्र की आत्मा कराह उठती है। यह कथन केवल व्यंग्य नहीं, हमारे लोकतंत्र की सच्चाई है, जहाँ संवेदनाएँ वोट बैंक के आगे दम तोड़ देती हैं।

नेता की वह छवि, जो जनता का मार्गदर्शन करती थी, अब एक गणक बन चुकी है – जो नीतियों की दिशा जनता की भलाई से नहीं, चुनावी गणना से तय करता है। लेखक जब नेताजी के मुख से कहलवाते हैं, "हम वह कर रहे हैं जो करना चाहिए – हम अपने वोटों की रक्षा कर रहे हैं", तब स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रभक्ति अब नारेबाज़ी और चुनावी भाषणों तक सिमट चुकी है। कश्मीर की आग केवल वहां के लोगों की नहीं है, वह पूरे देश के प्रशासनिक और नैतिक ढाँचे को झुलसा रही है।

लेकिन लेखक केवल शासकों को दोषी नहीं ठहराते। आम नागरिक भी इस पतनशील स्थिति का एक बड़ा कारक है।

Edit with WPS Office

‘रामलुभाया’ नामक पात्र, एक प्रतीक है उस नागरिक का, जो अपने घर में आतंकियों को 'मेहमान' के रूप में रखता है, पुलिस को घर में घुसने नहीं देता, और जब घर जल जाता है, तो पुलिस पर दोष मढ़ता है। उसकी मानसिकता यह है कि पुलिस चेतावनी दे सकती है, पर कार्रवाई नहीं कर सकती; आतंकी को घर से नहीं निकाल सकते, क्योंकि वे 'मित्र' हैं; और अगर वे घर जला दें, तो गुस्सा पुलिस पर उतारा जाएगा। यह स्वार्थ, यह अनैतिकता और यह तर्कहीनता हमारे समाज का एक खतरनाक यथार्थ है।

रामलुभाया की बातों से यह स्पष्ट होता है कि नागरिक केवल अधिकार चाहता है, कर्तव्य नहीं। वह सुरक्षा चाहता है, पर सतर्कता नहीं। वह चाहता है कि सरकार उसकी रक्षा करे, पर वह खुद अपने घर में आतंकियों को प्रश्रय देता है। इस अजीब द्वंद्व को लेखक अत्यंत मार्मिक और कटाक्षपूर्ण शैली में उजागर करते हैं, जो पाठक को झकझोरता है। रामलुभाया जैसे लोगों के कारण ही आतंकियों को देश के भीतर स्थान मिलता है। जब समाज की चेतना केवल 'सम्मान' और 'स्वार्थ' के इर्द-गिर्द घूमती है, तब राष्ट्र की अखंडता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है।

कश्मीर की समस्या को समझने के लिए केवल सुरक्षा या विदेश नीति की दृष्टि से सोचना पर्याप्त नहीं है। यह एक गहन सामाजिक और संवैधानिक प्रश्न भी है। लेखक यह दिखाते हैं कि कैसे कश्मीरी पंडित, जो अपने ही देश में विस्थापित होकर जीवन यापन कर रहे हैं, उनकी सुध लेने वाला कोई नहीं है। सरकार उन्हें कश्मीरी मानकर वापसी के लिए प्रेरित करती है, पर कश्मीरी उन्हें भारतीय मानकर लौटने नहीं देते। यह स्थिति दर्शाती है कि आज़ादी के 75 वर्षों बाद भी भारतीयों के लिए भारत में ही 'पराया' बन जाना कोई असंभव बात नहीं है।

लेख में यह स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है कि भारत में आज राजनीति, संवेदनाओं की सबसे बड़ी हत्यारी बन गई है। नेताओं के लिए अब यह ज़रूरी नहीं कि वे जनता के सुख-दुख में भागीदार बनें; ज़रूरी यह है कि उन्हें कितने वोट मिलते हैं। कोई भी मंत्री यह कह सकता है कि “जो लोग दंगा कर रहे हैं, वे दुखी हैं, उन्हें क्रोध प्रकट करने दीजिए।” यह उस शासन व्यवस्था की प्रतीकात्मक विफलता है, जहाँ अपराध को भावनात्मक जामा पहनाकर न्याय से बचा लिया जाता है।

यहाँ सबसे बड़ा प्रश्न यह है – कि क्या केवल वोटों की राजनीति के लिए, हम अपने देश की आंतरिक सुरक्षा, सामाजिक एकता, नागरिक जीवन और न्याय को दांव पर लगाना स्वीकार कर सकते हैं? क्या यह सही है कि दंगाईयों को केवल इसलिए न रोका जाए क्योंकि वे राजनीतिक रूप से लाभकारी हैं? क्या यह तर्क कि "वे तो हमें वोट नहीं देंगे" – किसी लोकतंत्र का न्यायिक आधार हो सकता है?

इन सब प्रश्नों के बीच लेखक एक बहुत कठोर सत्य की ओर संकेत करते हैं – कि अब देश की रक्षा केवल सीमा पर युद्ध लड़ने से नहीं हो सकती। अब यह लड़ाई भीतर से लड़ी जानी चाहिए – विचारों से, नीतियों से, कानूनों से और समाज की जागरूकता से। अगर आज भी हम यह नहीं समझते कि आतंकियों और नागरिकों में फर्क करना ज़रूरी है; कि सेना को केवल हथियार नहीं, निर्णय की स्वतंत्रता भी चाहिए; कि राजनीति को वोट नहीं, राष्ट्रहित चाहिए – तो हम हर बार केवल जलते कस्बों की खबर पढ़ते रहेंगे, और वह दिन दूर नहीं जब 'कश्मीर' इतिहास की एक पीड़ा बन जाएगा।

कश्मीर एक प्रतीक है – भारत की अखंडता का, उसकी विविधता में एकता का, उसकी सांस्कृतिक गरिमा का। लेकिन यह प्रतीक लगातार अपमानित हो रहा है – शासन की लापरवाही से, समाज की निष्क्रियता से, नेताओं की स्वार्थपरता से और नागरिकों की जिम्मेदारी से पलायन से। यह केवल एक राज्य नहीं, यह भारत की आत्मा है। और आत्मा को बार-बार आहत करने वाला समाज, कभी स्थायी रूप से खड़ा नहीं रह सकता।

आज आवश्यकता है कि हम इन प्रश्नों से मुँह न मोड़ें, उन्हें स्वीकार करें। प्रत्येक आम नागरिक को यह समझना होगा कि राष्ट्र की रक्षा मात्र सेना का जिम्मेदारी नहीं, उसकी भी ज़िम्मेदारी है। सरकार को यह समझना होगा कि हर नीति का आधार वोट नहीं, राष्ट्रहित होना चाहिए। संविधान निर्माताओं के मूल उद्देश्य को पुनः जीवंत करने की आवश्यकता है, जहाँ प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार और कर्तव्य हों – चाहे वह किसी भी राज्य का हो।

जब तक हम 'रामलुभाया' बनने से इनकार नहीं करते, तब तक न कश्मीर बचेगा, न उसका सम्मान। जब तक हम नेताजी

Edit with WPS Office

की तरह सोचते रहेंगे कि “दंगा करने वालों को कुछ मत कहो, वे हमारे वोट हैं”, तब तक यह लोकतंत्र एक धोखा बना रहेगा। और जब तक हम यह मानते रहेंगे कि आतंकी केवल 'आक्रोशित' हैं, तब तक भारत का मुकुट बार-बार अपमानित होता रहेगा।

यह समय है कठोर आत्मनिरीक्षण का, जहाँ हम केवल दूसरों पर आरोप न लगाएँ, बल्कि अपने भीतर झाँकें। यह समय है कि हम अपने विचारों, नीतियों और निर्णयों को राष्ट्रहित में ढालें। नहीं तो एक दिन इतिहास हमें क्षमा नहीं करेगा।

डॉ. मीना घुमे

हिंदी विभाग

दयानंद कला महाविद्यालय, लातूर

Edit with WPS Office